समकालीन भारतीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में पाओलो फ्रेरे के शैक्षिक विचार : विश्लेषण व समसामयिक आवश्यकता

अमृत पाल सिंह[1], डा॰ पूजा गुप्ता[2]

[1]शोधार्थी, शिक्षा, नोएडा अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा, (उत्तर प्रदेश) भारत

[2]सह-आचार्या, शिक्षा, नोएडा अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय, ग्रेटर नोएडा, (उत्तर प्रदेश) भारत

सारांश

वर्तमान में भारत में अभी भी शिक्षा की पहुँच सभी तक सुनिश्चित नहीं हो पाई है। आज भी भारत औपनिवेशिक शिक्षा-प्रणाली से जूझ रहा है। पाओलो .फ्रेरे के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को तृतीय विश्व की परिस्थितियों के संदर्भ में जाना-समझा जाता रहा है; और चूँकि भारत की परिस्थितियाँ भी काफ़ी हद तक तृतीय विश्व की परिस्थितियों के समान ही हैं। अतः, पाओलो .फ्रेरे के शिक्षा सम्बन्धी विचारों से भारत की समकालीन परिस्थितियों की और अधिक बेहतर समझ प्राप्त की जा सकती है। फलस्वरूप, शिक्षा को ठीक प्रकार से नियोजित कर सभी तक इसकी गुणात्मक पहुँच को सुनिश्चित किया जा सकता है।

मुख्य बिन्दु– पाओलो .फ्रेरे, संवाद, विवेचनात्मक चेतना, उत्पीड़ित, उत्पीड़क, मानुषीकरण, साक्षरता, पड़ोसी स्कूल, सामान्य विद्यालय प्रणाली, खामोशी की संस्कृति, बैंकीय अवधारणा, तृतीय विश्व, औपचारिकेतर शिक्षा, सर्वशिक्षा अभियान।

I भूमिका

प्रायः, शिक्षाविद् 'शिक्षा व सामाजिक परिस्थितियों' के बीच गहरा संबंध पाते हैं। उनके अनुसार शिक्षा को सामाजिक रूपान्तरण का साधन होना चाहिए। परन्तु, देखा जा सकता है कि आज भारत में शिक्षा-संरचना अनेक समस्याओं से जूझ रही है। शिक्षा का बहुसंख्यक वर्ग से न जुड़ पाना, शिक्षा का सांप्रदायीकरण, तथाकथित शिक्षित वर्ग का समाज से कटना, बौद्धिक व शारीरिक श्रम के बीच का बढ़ता फ़ासला इत्यादि समस्याएँ आज हमारी शिक्षा-संरचना को रूढ़ बना रही हैं।

इन सभी के मूल में एक ही बात प्रतीत होती है कि हमारी शिक्षा सामाजिक रूपान्तरण का साधन नहीं बन पाई है। दूसरे शब्दों में, यह समाज से ठीक प्रकार से जुड़ नहीं पाई है। ब्राज़ीली चिंतक पाओलो .फ्रेरे शिक्षा की इस प्रक्रिया को 'शोषक व शोषित' के मध्य आपसी संबंधों के रूप में देखते हुए मानते हैं कि यह शोषकों में आत्मलीनता का प्रसार कर रही है तो शोषितों में आत्महीनता का। यही कारण है कि शिक्षा में समाज के सभी वर्गों के उचित प्रतिनिधित्व की बात समय-समय पर उठती रही है। परन्तु, वर्तमान भारतीय शिक्षा-व्यवस्था का ढाँचा पिरामिडिय आकार का है, जिसमें छँटनी-प्रक्रिया इतनी सख़्त है कि समाज का एक बड़ा वर्ग शिक्षा से अछूता ही रह जाता है। दूसरी ओर, जो वर्ग शिक्षा-व्यवस्था में प्रवेश पा जाता है, वह पाठ्यचर्या में निहित संकीर्णता के कारण समाज से कटकर शिक्षा प्राप्त करता है। इससे समाज में स्तरीकरण की प्रवृत्ति पनपती है, जो आगे चलकर शिक्षा-व्यवस्था को और अधिक रूढ़ बना देती है; और व्यक्तियों के बीच असंवाद की संस्कृति पैदा करती है। अतः, आवश्यकता है ज्ञान को ऐसी प्रणाली के रूप में देखने की जिसमें एक व्यक्ति के अनुभव को दूसरे व्यक्ति के अनुभव को समृद्ध करने तथा दिशा प्रदान करने के लिए उपलब्ध कराया जा सके। ज्ञान की यही अवधारणात्मक बुनियाद लोकतांत्रिक परिवेश की मांग करती है। डीवी मानते हैं कि किसी भी पाठ्यक्रम-योजना में अध्ययन को मौजूदा सामुदायिक जीवन की आवश्यकताओं के प्रति अनुकूलित किया जाना चाहिए; उसमें ऐसी विषयवस्तु का चयन इस मंतव्य से किया

जाना चाहिए कि जो समान जीवन हम जीते हैं उसमें सुधार हो ताकि हमारा भविष्य हमारे अतीत से अच्छा हो। सामूहिक जीवन में लोकतंत्र के महत्त्व को समझाते हुए 'शिक्षा व लोकतंत्र' पुस्तक की प्रस्तावना में कृष्ण कुमार कहते हैं कि लोकतंत्र डीवी के लिए कोई शासन पद्धति नहीं है, वह एक ऐसी सामाजिक जीवन शैली है, जो मनुष्यों को एक-दूसरे के करीब जाने और परस्पर सहकार के अधिकतम अवसर दे सकती है। ये अवसर निरंतर प्रयोग की परिस्थितियाँ पैदा करते हैं और समाज के हर सदस्य को व्यक्तिगत मानसिक विकास की संभावना देते हैं। चूँकि, डीवी के लिए सत्य की पकड़ किसी व्यवहारिक समस्या का समाधान ढूँढने या निर्णय लेने की ज़रूरत महसूस होने के दौरान ही बनती है, इसलिए सामूहिक जीवन में हर चीज़ की खुली जांच की स्वतंत्रता और ज़िम्मेदारी एक बड़ा सामाजिक मूल्य बन जाती है।

गहराई से देखने पर पता चलता है कि यह सब संवाद-प्रक्रिया द्वारा ही संभव है, जो पाओलो .फ्रेरे के अनुसार शिक्षायी अथवा सामाजिक चेतना की एक प्रमुख पद्धति है। वह अपनी पुस्तक 'उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र' में कहते हैं कि संवादात्मक कर्म की विशेषता है- सहयोग; और सहयोग संप्रेषण से ही संभव है। संवाद एक अत्यंत आवश्यक संप्रेषण है। अतः, वह किसी भी प्रकार के सहयोग का आधार है। यह तभी संभव है जब अनुभवों को दूसरों के नज़रिए से देखा जाए। ऐसा करने पर सामाजिक प्रक्रियाओं में सभी की भागीदारी सुनिश्चित हो सकती है। भागीदारिता के लिए आवश्यक है- अनुभवों का लगातार नवीनीकरण होते रहना, अर्थात् जिन ढाँचों व प्रक्रियाओं का उपयोग कर अनुभवों को संप्रेषित किये जाते रहना है, उसे तात्कालिक परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित किया जाना चाहिए, अन्यथा संवाद-प्रक्रिया संभव नहीं हो सकेगी।

अनुभवों की इस परिवर्तनशील बुनावट को अपनाने पर ज्ञान की जो भी अवधारणात्मक समझ पैदा होगी वह निश्चित रूप से समाज के साथ जुड़ी होगी। वाइगॉत्स्की

के अनुसार तो ज्ञान संरचना में माध्यम के रूप में संस्कृति के उपकरणों द्वारा सीखा जाता है; और इसके लिए व्यस्कों के निर्देशन व अनुकरण की भी आवश्यकता पड़ सकती है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान का निर्माण एकाकी नहीं सामाजिक रूप से होता है। अतः, किसी व्यक्ति अथवा बच्चे को समझने के लिए उसके संदर्भ (संस्कृति) को समझना भी आवश्यक होता है। इसी बात को ध्यान में रखकर .फ्रेरे ने भूख को एकाकी घटना न मानकर उसे समाज में मौजूद सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियों की जीवित भूमिका के परिप्रेक्ष्य में देखा। उन्होंने देखा कि इन शक्तियों ने शासित इंसानों की चेतना को कुंद बना रखा है। एक उत्पीड़न की संस्कृति उन पर लाद दी गई है। उत्पीड़न की संस्कृति जारी रखने में संपूर्ण शिक्षा-व्यवस्था प्रमुख माध्यम बनी हुई है। ऐसी अवस्था में उत्पीड़ित मानवों में 'विवेचनात्मक चेतना' जगाना नामुमकिन है, जब तक कि शिक्षा का नया ढाँचा नहीं गढ़ लिया जाता।

शिक्षा का यह ढाँचा व्यक्तियों को संवेदनशील बनाए बगैर संभव नहीं है। जे. कृष्णमूर्ति के अनुसार यदि आप, जो कुछ आपके चारों ओर हो रहा है, उसके प्रति लापरवाह हैं, उसके प्रति निरपेक्ष हैं, तो आप संवेदनशील नहीं हो सकते। .फ्रेरे में हम इसी संवेदनशीलता अथवा रिश्तों के मानवीयकरण को देख सकते हैं। उनके अनुसार व्यवहार से अलग कोई ज्ञान नहीं होता। रामशरण जोशी .फ्रेरे की संवेदनात्मक सोच के बारे में बताते हुए कहते हैं कि .फ्रेरे चाहते हैं कि जहां शिक्षा उत्पीड़ित मानव की सदियों पुरानी जकड़न को तोड़े वहीं उसकी मुक्ति-प्रक्रिया का भी मानवीयकरण करे। इंसानी रिश्तों का मानवीयकरण तभी संभव है जब 'खुला समाज' या 'मधुर समाज' की स्थापना हो, जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच संवाद के लिए पूरा स्थान होगा। असल में, संवाद का यही वातावरण 'प्रेम, सहभागिता व ज़िम्मेदारी' को उत्पन्न कर सकता है। गाँधी जी भी यह मानते रहे हैं कि शिक्षा की मुख्य भूमिका है- विश्व में प्रेम और शांति का वातावरण बनाना, जिसके लिए आज समस्त मानवता भूखी है। इस प्रेमपूर्ण व शांतिमय वातावरण अथवा समाज को गांधी जी अपनी 'सर्वोदय' की अवधारणा में पूरा होते हुए देखते हैं। सर्वोदय का तात्पर्य है- सबका उदय और सबके द्वारा उदय। अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में गांधी जी सर्वोदय समाज की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि मैं सर्वोदय के सिद्धान्तों को इस प्रकार समझा हूँ-

(i) सबकी भलाई में हमारी भलाई निहित है।
(ii) वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका का अधिकार सबको एक समान है।
(iii) सादा मेहनत-मजदूरी का, किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीज़ मैं जानता था। दूसरी को मैं धुंधले रूप में देखता था। तीसरी का मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दीये की तरह दिखा दिया कि पहली चीज़ में दूसरी दोनों चीज़ें समायी हुई हैं। वास्तविकता तो यह है कि गांधी जी भारत की तात्कालिक परिस्थितियों में कहीं गहरे घर कर गई छुआ-छूत, अस्पृश्यता, बौद्धिक श्रम की शारीरिक श्रम पर प्रधानता, शिक्षा व उत्पादकता के बीच अलगाव इत्यादि समस्याओं से अच्छी तरह परिचित थे। इन समस्याओं के जड़ से उन्मूलन की खातिर ही गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा की बात उठाई थी। यह भी सही प्रतीत होता है कि बुनियादी शिक्षा समाज की परिस्थितियों के साथ सीधा संवाद स्थापित करने की शिक्षा है; स्वावलंबन की शिक्षा है। संवाद स्थापित करने की यही चाह पाओलो .फ्रेरे के शैक्षिक विचारों का सार है। उनकी नज़र में संवाद ही वह पद्धति है, जिसके ज़रिए उत्पीड़ित व उत्पीड़क का मानुषीकरण अथवा मानवीयकरण हो सकता है। असल में, मानवीयकरण की प्रक्रिया अपने में शोषण से मुक्ति की चाह को संजोए हुए है। इसी संदर्भ में .फ्रेरे शिक्षा को साक्षरता के अर्थ में परिभाषित करने का प्रयास भी करते हैं। .फ्रेरे के अनुसार साक्षरता का कोई अर्थ तभी है, जब निरक्षर व्यक्ति दुनिया में अपनी स्थिति, अपने काम और इस दुनिया में बदलाव लाने की अपनी क्षमता को लेकर सोचने लगे। यही चेतना है। उन्हें पता चले कि दुनिया उनकी है, प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग की नहीं। .फ्रेरे के अनुसार शासक वर्ग इस प्रकार की चेतना के प्रसार के मामले में बहुत बड़ा बाधक है। वह मानते हैं कि निरंकुश राज्य और सम्पन्न लोग नहीं चाहते कि किसान पढ़ने की प्रक्रिया में उठ खड़े हों। वस्तुतः, शिक्षा के आदर्श के लिए दलितों, किसानों व मजदूरों को साक्षर व शिक्षित करना आवश्यक है। मानववाद का भी यही संदेश है।

यहाँ यह समस्या खड़ी हो सकती है कि दलितों, किसानों और मज़दूर वर्ग से सम्बन्धित व्यक्तियों को उनकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में किस प्रकार की शिक्षा दी जाए, अर्थात् पाठ्यक्रम का स्वरूप क्या हो? इसके लिये .फ्रेरे का मानना था कि दार्शनिकों, कला, शिक्षकों, भौतिक विज्ञानियों, गणितज्ञों, समाजशास्त्रियों की सहायता की ज़रूरत है। पाठ्यक्रम को विस्तृत और उपयोगी बनाने के लिए इनकी सहायता कारगर सिद्ध होगी। शिक्षा, कला, नीतिशास्त्र, कामवासना, मानव अधिकार, खेल, सामाजिक वर्ग, भाषा, दार्शनिक विचारधारा जैसी ज्ञान की शाखाओं पर चर्चा होनी चाहिए, जिससे पाठ्यक्रम की पुनर्रचना ठीक हो सके। पाठ्यचर्या में अल्पसंख्यकों के मूल्यों को भी शामिल करना चाहिए। स्पष्टतः, .फ्रेरे लोकतांत्रिक प्रक्रिया व सोच के सतत-सहभागी स्वरूप को पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहते हैं, न कि उसके आभासी प्रतिक्रियावादी स्वरूप को। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि पाठ्यक्रम का निर्माण, निहित स्वार्थों के वशीभूत होकर किया जाता है, न कि अपवंचितों के हितों के लिए। यदि पाठ्यक्रम अपवंचितों के हितों के अनुरूप हो तो इसे वास्तविक मुक्ति के रूप में देखा जा सकता है।

वर्तमान शिक्षा परिदृश्य में .फ्रेरे शिक्षा को शोषण से मुक्त करने वाली कड़ी के रूप में देखने के कारण अलग से पहचान लिए जाते हैं। मुक्ति की उनकी यह चाह शोषक व शोषित दोनों के प्रति रही है।

(क) शोषित के प्रति इस रूप में कि वह उत्पीड़न की गहरी जड़ों को काट कर 'समीक्षायी चेतना' में प्रवेश कर सके। दूसरे शब्दों में, वह समाज में अपनी स्थिति के प्रति सजग हो सके।

(ख) शोषक के प्रति इस रूप में कि वह जाने-अनजाने अपने द्वारा किए जाने वाले उत्पीड़न व उत्पीड़ित के प्रति संवेदनशील हो सके।

शोषक व शोषित की मुक्ति असल में उनके वैचारिक अथवा सांस्कृतिक एकीकरण से ही संभव होगी, जिसे बड़े संदर्भ में सामाजिक व राष्ट्रीय एकीकरण कहा जा सकता है। कोठारी आयोग ने सामाजिक व राष्ट्रीय एकीकरण को ध्यान में रखकर अनुच्छेद 1.34 में यह माना है कि एक शक्तिशाली एकतापूर्ण देश के निर्माण के लिए जो कि सभी प्रकार की उन्नति की पहली आवश्यक शर्त है, सामाजिक और राष्ट्रीय एकीकरण का बड़ा महत्त्व है। उसमें कई बातें- आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक, शामिल हैं; और उसके विभिन्न पहलू आपस में एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं। उसके लिए आवश्यकता है-

(क) राष्ट्र के भविष्य में आस्था की;

(ख) लोगों के रहन-सहन के स्तर में निरन्तर वृद्धि और बेकारी तथा देश के उन विभिन्न भागों के विकास में असमानता में कमी की, क्योंकि ये सभी बातें राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अर्थों में अवसर की समानता की भावना को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक हैं;

(ग) नागरिकता के मूल्यों और दायित्वों की एक गंभीर भावना की तथा लोगों में संपूर्ण राष्ट्र के प्रति, न कि किसी वर्ग के प्रति, बढ़ते हुए निष्ठापूर्ण तादात्म्य की;

(घ) सरकारी सेनाओं की चारित्रिक दृढ़ता पर आधारित अच्छे और निष्पक्ष प्रशासन तथा केवल कानून की दृष्टि से ही नहीं किन्तु वास्तविक रूप से समान व्यवहार के आश्वासन की; और राष्ट्र के विभिन्न वर्गों की संस्कृति, परंपराओं तथा जीवन-प्रकार के लिए आपसी सद्भावना और सम्मान की।

इसी प्रकार शिक्षा के ज़रिए सांस्कृतिक एकीकरण को लेकर आचार्य राममूर्ति समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें की हैं-

(i) शिक्षा की सांस्कृतिक विषयवस्तु के अंतर्गत न केवल भारत की समान सांस्कृतिक विरासत को शामिल करना चाहिए, वरन् भारत के विभिन्न भागों की विविधता को प्रतिबिंबित करने वाली सांस्कृतिक परंपराओं को भी उसमें शामिल करना चाहिए; खासकर वे जो मौखिक एवं लोक परंपराओं की प्रतीक हैं।

(ii) छात्र समुदाय को शिक्षा की विषयवस्तु के माध्यम से देश की सांस्कृतिक परंपराओं का परिचय करवाया जाय; तथा उनमें 'समीक्षात्मक विश्लेषण' द्वारा उन्हें स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने की क्षमता विकसित की जाय।

इन सिफारिशों में एक मुख्य बात उभर कर सामने आती है कि शिक्षा ऐसी हो, जो अपने आसपास के सांस्कृतिक, राजनीतिक व सामाजिक जीवन अथवा माहौल से इस प्रकार जुड़ी हो कि सोचने वाला 'सक्रिय भूमिका' में रहे। यह सक्रिय भूमिका अपने अधिकारों व ज़िम्मेदारियों, दोनों के प्रति सजग होकर चलने पर बनती है। इस सम्बन्ध में कोठारी आयोग ने 'पड़ोसी स्कूल' की अवधारणा को सामने रखा था, जो 'सामान्य विद्यालय प्रणाली' का ही एक हिस्सा थी। आयोग का यह स्पष्ट मानना था कि गरीब और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग के स्कूल तथा धनिक और सम्पन्न वर्गों के स्कूलों के बीच इस समय पार्थक्य की जो स्थिति उत्पन्न हो गई है, उसे दूर करने की दिशा में एक कदम के रूप में पड़ोसी पाठशाला योजना को अंगीकार करना चाहिए। असल में, आयोग पड़ोसी स्कूल का अनुमोदन कर शिक्षा को राष्ट्रीय विकास का; और विशेषतः सामाजिक तथा राष्ट्रीय एकता का शक्तिशाली माध्यम बनाना चाहता था। मदन मोहन झा इस उद्देश्य की पूर्ति को समावेशी शिक्षा में देखते हैं। उनके अनुसार बच्चों की शारीरिक और मानसिक योग्यताएं चाहे जो हों, उनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति चाहे जो हो, बाधाओं को दूर करके विद्यालय में सभी बच्चों को एक साथ लाने और अधिगम की गतिविधियों में सभी की भागीदारी सुनिश्चित करने के साथ ही समावेशी शिक्षा की प्रक्रिया का आरम्भ होता है। विद्यालयों के अंदर एक बार ये दीवारें टूट जाएँ, फिर तो विद्यालय अपनी सीमाओं से बाहर निकल आएंगे, अपने अलगाव को खत्म करेंगे और समुदाय की तरफ बढ़ेंगे। लेकिन, असल समस्या यह है कि अमानवीयकृत युग में बच्चों को एक साथ विद्यालय में लाना एक दुरूह कार्य है। इसका प्रमुख कारण शोषित व्यक्ति का घेरेबन्द समाज में घुटन भरा जीवन जीना है। वे ऐसी परिस्थितियों में जीवन बसर करते हैं कि उनके लिए विद्यालयों के अन्दर बनाई गई दिवारें तोड़ना नितान्त मुश्किल है।

दरअसल, शोषित वर्ग के ऊपर एक ऐसी संस्कृति को लादने का काम किया जाता रहा है, जो उन्हें उत्पीड़न सहने को विवश करती है। इसे पाओलो .फ्रेरे 'खामोशी की संस्कृति' कहते हैं। पाओलो .फ्रेरे इस 'खामोशी की संस्कृति' को तोड़ने की बात करते हैं, क्योंकि यह 'खामोशी की संस्कृति' स्थितियों को ज्यों-का-त्यों बनाए रखती है। भारत में आज इसी प्रकार की संस्कृति शिक्षा के प्रति सामाजिक चेतना को ग्रसित किए हुए है। इसमें आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक शक्तियों की अपनी एक अलग भूमिका है। समाज की आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक परस्थितियाँ तथा समाज की वर्तमान और भावी आवश्यकताएं, शिक्षा-प्रक्रिया को लगातार प्रभावित करती रहती हैं। वस्तुतः, यही शिक्षा का सामाजिक आधार है।

इस सामाजिक आधार में शोषण के अलग-अलग रूपों को समझकर ही पाओलो .फ्रेरे ने समाज में 'दखलअंदाज़ी की संस्कृति' को अपनाने पर बल दिया था। इससे शोषकों द्वारा अपनाई गई 'आक्रमण की संस्कृति' कमज़ोर होती है। परन्तु, वर्तमान भारतीय शैक्षिक परिदृश्य में ऐसा प्रतीत होता है कि 'दखलअंदाजी की संस्कृति' अभी ठीक से पनपी नहीं है। आज भी विद्यार्थी, शिक्षकों से धैर्य के साथ ग्रहण करते हैं, रटते हैं और दोहराते हैं। शिक्षक सारा साल इस प्रकार पढ़ाते हैं, जैसे कि वह विद्यार्थियों के दिमाग रूपी बैंकों में पैसा जमा कर रहे हों; और अंत में परीक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सूद (ब्याज) समेत मूल वापस कर देंगे अथवा उगल देंगे। पाठ्यचर्या का ढाँचा इतना संकीर्ण है कि उसमें सृजनशीलता के लिए बहुत कम अवसर बचता है।

पाओलो .फ्रेरे इसे **'शिक्षा की बैंकीय अवधारणा'** कहते हैं। उनके अनुसार इसमें

(i) शिक्षक पढ़ाता है, और छात्र पढ़ाए जाते हैं।
(ii) शिक्षक सब कुछ जानता है; और छात्र कुछ भी नहीं जानते।
(iii) शिक्षक सोचता है; और छात्रों के बारे में सोचा जाता है।
(iv) शिक्षक बोलता है; और छात्र सुनते हैं- चुपचाप।
(v) शिक्षक अनुशासन लागू करता है; और छात्र अनुशासित होते हैं।
(vi) शिक्षक अपनी मर्ज़ी का मालिक है, वह अपनी मर्ज़ी चलाता है और छात्रों को उसकी मर्ज़ी के मुताबिक चलना पड़ता है।
(vii) शिक्षक कर्म करता है; और छात्र उसके कर्म के ज़रिए सक्रिय होने के भ्रम में रहते हैं।
(viii) शिक्षक पाठ्यक्रम बनाता है; और छात्रों को (जिनसे पाठ्यक्रम बनाते समय कोई सलाह नहीं ली जाती) वही पढ़ना पड़ता है।
(ix) शिक्षक अपने पेशेवर अधिकार को ज्ञान का अधिकार समझता है (स्वयं को अपने विषय का अधिकारी विद्वान् समझता है) और उस अधिकार को छात्रों की स्वतंत्रता के विरूद्ध इस्तेमाल करता है।
(x) शिक्षक अधिगम की प्रक्रिया का कर्त्ता होता है; और छात्र महज़ अधिगम की वस्तुएँ।

शिक्षा की बैंकीय अवधारणा की विशेषताओं को भारत की शिक्षा-प्रणाली में भी देखा जा सकता है। यह इस बात का सूचक है कि यहाँ बच्चे ज्ञान के बोझ से त्रस्त हैं। ज्ञान के इस बोझ को कम करने के लिए ही यशपाल समिति का गठन किया गया था, जिसका स्पष्ट मानना था कि स्कूल बैग का भार तो समस्या का एक पहलू है, दूसरा पहलू बच्चों की रोज़ की दिनचर्या में देखा जा सकता है। बपचन के शुरू के दिनों से ही बच्चे; विशेषकर मध्यम वर्गों के बच्चे गृहकार्य (होम वर्क), ट्यूशन और विभिन्न प्रकार की 'कोचिंग' कक्षाओं में भाग लेने को विवश हो जाते हैं। अवकाश तो बच्चों के जीवन में; विशेषकर शहरी बच्चों के जीवन में बड़ी ही दुर्लभ वस्तु हो गया है। बच्चों को रोज़ की दिनचर्या में अपनी सहज प्रवृति या क्षमताओं को दिखाने का कोई अवसर नहीं मिलता। उन्हें खेलने, साधारण आनन्द लेने, सोचने-समझने और विश्व को जानने का समय नहीं मिलता।

इसी प्रकार जॉन होल्ट अपनी पुस्तक 'कैसे असफल होते हैं बच्चे?' में प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था की ख़ामियों को बताते हुए कहते हैं कि हम कई-कई उपायों से बच्चों के इस विश्वास को डिगाते हैं कि हमारी आसपास की दुनिया में कोई अर्थ है। हम बच्चों को उनके सामान्य ज्ञान व वास्तविक दुनिया से भी काटते हैं। हम उन्हें ऐसे बच्चों में बदल देते हैं, जो शब्दों व प्रतीकों से सहजता से खेल सकें, पर उनकी वास्तविकता से कटे रहें, ऐसे लोग जो बड़े-बड़े समान्यीकरणों की भाषा तो बोलें, पर उस समय खामोश या नाराज़ हो जाएँ, जब उनसे उनकी बात का एक भी उदाहरण माँगा जाए। ऐसे लोग जो विश्व के मसलों की चर्चा के दौरान 'बृहद मृत्यु' या 'बृहद विनाश' जैसे शब्द गढ़कर उनका प्रयोग तो करें, पर इन शब्दों से संकेतित खून-खराबे व पीड़ा की कल्पना तक न कर पाएँ। हम बच्चों के साथ ईमानदारी नहीं बरतते। हम उन्हें भी हमारे प्रति ईमानदार होने से रोकते हैं। बच्चे शुरू से ही यह सीख लेते हैं कि स्कूल और शिक्षकों को नापसंद करने की मनाही है।

फ्रेरे ऐसा मानते थे कि विद्यार्थी की रचनात्मक शक्ति को कम-से-कम करने या उसे समाप्त करने तथा उनके भोलेपन या सहज विश्वसनीयता को बढ़ाने की जो क्षमता बैंकिंग शिक्षा में है, उससे उत्पीड़कों के हितों की पूर्ति की जाती है। इन उत्पीड़कों को न तो इस बात की चिंता है कि यह दुनिया खुले रूप में सामने आए और न ही वे इसे बदली हुई देखना चाहते हैं।

यदि हम पाओलो .फ्रेरे की उपर्युक्त सोच को भारतीय संदर्भ में देखें, तो पाते हैं कि भारतीय समाज में औपनिवेशिक शिक्षा-प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक स्थायी है। भारतीय शासक वर्ग ने जानबूझकर या अनजाने में प्राचीन शासकों की पद्धतियाँ अक्षरशः अपना ली हैं। भारतीय शिक्षण संस्थान विशिष्ट वर्ग से बच्चों को समाज में प्रतिष्ठित पद प्राप्ति के लिए शिक्षित करते हैं, लेकिन जहाँ सामान्य या निम्नवर्गीय बच्चे पढ़ते हैं, उन शिक्षण संस्थाओं के साथ दोहरा चरित्र अपनाया जाता है। इन संस्थाओं का कार्य-स्तर अकसर घटिया होता है। यह दोहरा चरित्र उत्पीड़ितों और उत्पीड़कों के बीच की खाई को और अधिक गहरा करता जाता है।

II समसामयिक आवश्यकता

स्वतंत्रता पश्चात् भारतीय चिंतकों ने तीसरी दुनिया में शिक्षा के समस्त आधार में आमूल परिवर्तन किए जाने की सिफारिशें कीं। परन्तु, शिक्षा-संरचना में सुधार के लिए जो भी प्रगतिशील और लोकोन्मुखी नवाचार के प्रस्ताव या उसके लिए प्रयत्न किए गए, निहित स्वार्थों ने, जिनकी जड़ें बहुत गहरी हैं, उन्हें असफल बना दिया। शिक्षा शून्य में संचालित नहीं होती। यह समाज की संस्कृति और समाज पर पड़ने वाले बाहा प्रभावों से अनुप्रेरित होती है। यदि, तीसरी दुनिया की शिक्षा की बात की जाए, तो देखा जा सकता कि पाओलो .फ्रेरे के दृष्टिपटल पर तीसरी दुनिया अथवा विकासशील देशों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ पूर्णतः अंकित थीं। उनके विचारों के आलोक में तीसरी दुनिया में भूख, गरीबी, कुपोषण, शोषण इत्यादि के इर्द-गिर्द फैली सामाजिक बुनावट को समझने का प्रयास किया जाता रहा है। भारत को भी सामान्यतः तृतीय विश्व की श्रेणी में शामिल माना जाता रहा है। भले ही रामशरण जोशी की दृष्टि में तीसरे विश्व की श्रेणी में वे देश शामिल हैं, जहाँ अभी तक आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं में आधारभूत परिवर्तन नहीं लाया जा सका है; और उत्पादन-संबंधों के स्वरूप निर्धारण का कार्य उत्पादक शक्तियों के हाथों में नहीं पहुँचा है और वे भारत को तृतीय विश्व की संकल्पना से प्रथम विश्व की संकल्पना की ओर बढ़ता हुआ देखते हों, परन्तु भारत की स्थिति अभी भी काफी हद तक तीसरी दुनियां के देशों से इतर नहीं है। ऐसा इसलिए, क्योंकि जोआओ दा विएगा काउटिन्हो के अनुसार तीसरी दुनिया एक ऐसा संसार है, जो दूसरों के

द्वारा खोजा गया, जिस पर आक्रमण किया गया, जिसे अधिनस्त बनाया गया, शासित किया गया और तब इसे शिक्षित किया गया और इसकी 'मदद' की गई। अर्थात्, इन देशों की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में परिवर्तन किया गया, ताकि इन्हें तथाकथित रूप से आधुनिक बनाया जा सके। भारत की परिस्थितियाँ तीसरी दुनिया की इस अवधारणा से विमुख नहीं है। असल में, भारतीय समाज में वे तत्व विद्यमान हैं, जो इसे तीसरी दुनिया का देश मानने के लिए पर्याप्त हैं।

भारत की शिक्षा-संरचना को गहराई से देखने पर यह बात साफ़ तौर पर उभरकर सामने आती है कि भारत में समय-समय पर सामाजिक कल्याण के संवैधानिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए संवैधानिक संशोधनों द्वारा कानूनी रास्ता अपनाया जाता रहा है। इसके मूल में मुख्यतः यही बात प्रतिबिम्बित होती है कि-

(क) शिक्षा की पहुँच सभी वंचितों व वर्गों तक हो सके।

(ख) शिक्षा में सिद्धान्त व व्यवहारिकता का संतुलन बना रहे।

(ग) शिक्षा समाज से इतर केवल एकांगी प्रक्रिया न बनकर रह जाए।

भारत में शिक्षा को सर्वव्यापक बनाने के लिए किए गए विभिन्न प्रयास उदारीकरण, वैश्वीकरण, निजीकरण इत्यादि वैश्विक प्रघटनाओं से अछूते नहीं रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में वैश्वीकरण, उदारीकरण व निजीकरण से जहाँ भारत में एक ओर नए क्षेत्रों का सृजन हुआ है, तो वहीं दूसरी ओर विशिष्टीकरण द्वारा शिक्षा से वंचित तबका और अधिक वंचित भी हुआ है। भारत में शिक्षा-संरचना राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था के इर्द-गिर्द आकार ग्रहण करती रही है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक-प्रक्रियाएँ शिक्षा-संरचना में व्यापक फेरबदल का कारण रही हैं। भारत में भले ही शिक्षा व आर्थिक क्षेत्र में आरक्षण के ज़रिए सामाजिक स्तरीकरण को दूर करने का प्रयास किया जाता रहा हो, परन्तु यह अभी भी वंचितों की सामाजिक स्थिति में सुधार का एक प्रबल औजार नहीं बन पाया है। उपर्युक्त भारतीय स्थितियों में सुधार के लिए शिक्षा की अहम् भूमिका हो सकती है। परन्तु, यह स्पष्टतः देखा गया है कि राजनीतिक संरचना अथवा राज्य-व्यवस्था राज्य के नागरिकों के कल्याण के लिए नीति बनाने की बजाय राज्य-संरचना को रूढ़ बनाने वाली व्यवस्था के पोषण का ज़रिया मात्र बनती जा रही है। गठबंधन सरकारों का चलन इस स्थिति में और वृद्धि करता प्रतीत होता है। फलस्वरूप, शिक्षा-संरचना और उसमें भी विशेषतः पाठ्यपुस्तकें विभिन्न राजनीतिक दलों की विचारधाराओं का प्रपत्र बनकर रह जाती हैं। इसके पीछे राजनीतिज्ञों द्वारा 'लाभ की स्थिति' छूट जाने का डर कार्य करता है जिसे .फ्रेरे 'स्वतंत्रता का भय' अवधारणा के अन्तर्गत रखते हैं।

भारत में शिक्षा की सुलभता के लिए औपचारिकेतर शिक्षा तंत्र को खड़ा करने के प्रयास विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के माध्यम से किए गए हैं। परंतु, अब यह औपचारिकेतर शिक्षा तंत्र 'सुरक्षा वाल्व', 'आक्रोश प्रतिस्थापन' व 'सस्ता या मुफ़्त तो घटिया' जैसी अवधारणाओं में परिवर्तित होते जा रहे हैं। इसी कड़ी में सर्वशिक्षा अभियान 'शिक्षा' की बजाय 'साक्षरता' पर केन्द्रित होकर रह गया है।

प्राचीन समय से ही भारतीय उपमहाद्वीप की पहचान विभिन्न धर्मों के समन्वयक के रूप में रही है। फलस्वरूप, भारत में अनेक संप्रदाय, धर्म व संस्कृतियाँ फली-फूलीं। एक ग्राम बनते विश्व में भारत उत्तर-आधुनिकता, उपभोक्तावाद, नस्लवाद, अकर्मण्यता, असमानुभूति इत्यादि अवधारणाओं से अछूता नहीं रहा है। भारत में क्षेत्रवाद, संप्रदायवाद, धार्मिक उथलापन, अलगाववाद, शहरीकरण, सांस्कृतिक विघटन, राजनीतिक अस्थिरता, वर्गीय औद्योगिकीकरण इत्यादि समस्याएँ पहले से अधिक जटिल रूप में सामने आई हैं। शिक्षा जगत् भी इन समस्याओं से अछूता नहीं रहा है। ऐसे में सवाल पैदा होता है कि समकालीन भारतीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में पाओलो .फ्रेरे के शैक्षिक विचारों अथवा चिंतन को उसी रूप में देखा जाय जिस रूप में वह तृतीय विश्व के संबंध में देखे जाते रहे हैं, अथवा नए संदर्भों में उन्हें जांचा-परखा जाए? वस्तुतः, पाओलो .फ्रेरे के शिक्षा सम्बन्धी विचारों से भारत की समकालीन परिस्थितियों की और अधिक बेहतर समझ प्राप्त की जा सकती है। फलस्वरूप, शिक्षा को ठीक प्रकार से नियोजित कर सभी तक इसकी गुणात्मक पहुँच को सुनिश्चित किया जा सकता है।

III सारबद्ध निष्कर्ष

भूतकाल में पाओलो .फ्रेरे को केवल ब्राज़ील की परिस्थितियों के संदर्भ में ही जाना-पहचाना गया। भारत की भूतकाल की परिस्थितियाँ भी ब्राज़ील की भूतकाल की परिस्थितियों से ज़्यादा भिन्न नहीं थीं। यहाँ भी सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक शोषण के इर्द-गिर्द ही शिक्षा-व्यवस्था की रचना हुई है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान समय में भारत में अभी भी शिक्षा की पहुँच सभी तक सुनिश्चित नहीं हो पाई है। आज भी भारत औपनिवेशिक शिक्षा-प्रणाली से जूझ रहा है। चूँकि, भारत की परिस्थितियाँ भी काफ़ी हद तक तृतीय विश्व की परिस्थितियों के समान ही हैं। अतः, पाओलो .फ्रेरे के शिक्षा सम्बन्धी विचारों के विश्लेषण-विवेचन से भारत की समकालीन परिस्थितियों की और अधिक बेहतर समझ प्राप्त की जा सकती है। फलस्वरूप, शिक्षा को ठीक प्रकार से नियोजित कर सभी तक इसकी गुणात्मक पहुँच को सुनिश्चित किया जा सकता है। यह नियोजन सतत-सहभागी संघर्ष व विमर्श द्वारा ऐसे प्रयासों को गति प्रदान कर सकता है, जिससे शिक्षा से वंचित तबके को मुख्यधारा में लाना संभव हो सकेगा। इसके अतिरिक्त, शिक्षा-प्रणाली को भविष्य की परिस्थितियों के अनुरूप और अधिक व्यवस्थित किया जा सकना भी संभव हो सकेगा।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

[1] कृष्णमूर्ति, जे. (1998), शिक्षा संवादः छात्रों और शिक्षकों से (अनुवादः डॉ. डी. एस. वर्मा), कृष्णमूर्ति फाउण्डेशन इंडिया, वाराणसी, पृ. 14.

[2] गांधी, मो. क. (2002), सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा (अनुवादः काशीनाथ त्रिवेदी), नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, पृ. 260.

[3] जोशी, रामशरण (1996), आदिवासी समाज और शिक्षा (अनुवादः अरुण प्रकाश), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ. 118-135.

[4] झा, मदन मोहन (2003), समावेशी शिक्षाः दृष्टिकोण और प्रक्रियाएँ (अनुवादः नरेश 'नदीम'), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 21.

[5] डीवी, जॉन (1998), शिक्षा और लोकतंत्र (अनुवादः लाडलीमोहन माथुर), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली पृ. vi, 185-329.

[6] पाण्डेय, रामशक्ल (2000), पालो फ्रेरा, विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री में, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृ. 163-169.

[7] .फ्रेरे, पाओलो (1997), उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र (अनुवादः रमेश उपाध्याय), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ. 34-121.

[8] .फ्रेरे, पाओलो (1997), प्रौढ़साक्षरताः मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई (अनुवादः जवरीमल्ल पारख), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ. xii-xiii.

[9] बेल, ब्रेंडा, गैवेंटा, जॉन एवं पीटर्स, जॉन (सं.) (2003), चलकर राह बनाते हम (अनुवादः शैवाल गुप्ता व अन्य), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ. 74.

[10] भारत सरकार (1968), शिक्षा और राष्ट्रीय विकास (शिक्षा आयोग का प्रतिवेदन, 1964-66), शिक्षा मंत्रालय, नई दिल्ली, पृ. 11-284.

[11] भारत सरकार (1990), राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की समीक्षा समिति का प्रतिवेदन (आचार्य राममूर्ती समिति), नई दिल्ली, पृ. 250.

[12] भारत सरकार (1993), शिक्षा बिना बोझ के (यशपाल समिति), राष्ट्रीय सलाहकार समिति का प्रतिवेदन (अनुवादः राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नई दिल्ली), शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली, पृ. 4.

[13] होल्ट, जॉन (2000), कैसे असफल होते हैं बच्चे? (अनुवादः निर्मला जोशी), प्रेमनाथ एण्ड सन्स, दिल्ली, पृ. 91-99.